लीबिया जहाँ कुँओं से तेल नहीं ख़ून उबल रहा है

जनाब शकील हसन शमसी साहब ''राष्ट्रीय सहारा'' देहली
अनुवादकः सैय्यद सुफ़यान अहमद नदवी

पश्चिम एशिया में जो कुछ हो रहा है उसके बारे में ज़हन में कई सवाल उभरते हैं जैसे कि क्या ये इस्लामी इन्क़ेलाब है? पब्लिक के जागने की कोई लहर है? पब्लिक का वक़्ती जुनून है? कोई गहरी साज़िश है? आमिरों, शाहों और फ़ौजी जनरलों के सितारे गर्दिश में हैं? ख़रबूज़े को देखकर ख़रबूज़ा रंग पकड़ रहा है? दबी और कुचली हुई पब्लिक के लिए सर उठाकर जीने का इलाही हुक्म आ गया है? साम्राज ने अपने जो एजेन्ट मुसलमानों पर मुसल्लत किए थे उन एजेन्टों के ख़ातमे का बिगुल बज गया है? या अल्लाह की तरफ़ से ज़ालिमों की जो रस्सी बढ़ाई गई थी, उसके कसने के दिन आ गए हैं? इनमें से किसी एक सवाल का जवाब वक़्त ज़रूर देगा तब ही मालूम होगा कि इतनी बड़ी तबदीली की असल वजह क्या थी। सारी दुनिया हैरान है कि एक साथ इतने मुल्कों में अचानक इन्क़ेलाब के ढोल कैसे बजने लगे? आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ कि फ्रांस के इन्क़ेलाब ने जर्मनी में अपनी सोच पहुँचा दी हो या फिर चीन के सुर्ख़ इन्क़ेलाब का असर हिन्दुस्तान में महसूस किया गया हो? ये अलग बात है कि इन इन्क़ेलाबों का थोड़ा बहुत असर आसपास के मुमालिक में बसने वाले कुछ लोगों के दिलों पर हुआ, लेकिन अवामी तहरीक की शक्ल में किसी इन्क़ेलाब ने कभी जगह नहीं बनाई।

अलबत्ता ईरान के इस्लामी इन्क़ेलाब के बाद दुनिया के कई मुल्कों ने पहली बार इस बात की शिकायत की कि ईरान इस्लामी इन्क़ेलाब को उनके यहाँ पहुँचाने की कोशिश कर रहा है और यह इन्क़ेलाब लेबनान और फ़िलस्तीन में पहुँचा भी, जहाँ हिज़्बुल्लाह और हमास जैसी इन्क़ेलाबी जमाअतें इस्राईल के ज़ालिम हुक्मरानों से टकराने को तैयार हो गईं, लेकिन ईरान का इन्क़ेलाब भी इस तरह आगे नहीं बढ़ सका, जिस तरह से ट्युनिशिया और मिस्र का इन्क़ेलाब आगे बढ़ा। ट्युनिशिया और मिस्र में जो कुछ हुआ और जितनी तेज़ी से हुआ उसकी न तो किसी को उम्मीद थी न ही किसी ने सोचा था कि इतनी मज़बूत हुकूमतें एक हवा के झोंके के साथ सूखे हुए पत्तों की तरह उड़कर बिखर जाएंगी? ट्युनिशिया के इन्क़ेलाब ने सिर्फ़ एक शख़्स की जान की क़ीमत पर अपने लिए कामयाबी हासिल की, मिस्र वाले इतने खुश क़िस्मत नहीं थे, उनके यहाँ फ़ौज का एक हिस्सा पब्लिक के साथ रहा फिर भी 350 लोगों की जानें इस इन्क़ेलाब की नज़र हो गईं, लेकिन अब लीबिया के हुक्मरान मुअम्मर अल-क़ज़ाफ़ी, यमन के डिक्टेटर सालेह बिन अली और बहरैन के शाह हमाद बिन ईसा अल-ख़लीफ़ा ने अपने शहरियों पर गोलियों की बारिश करके इससे भी बड़ी तादाद में लोगों की जानें लेने का फ़ैसला कर लिया। ख़ास तौर पर लीबिया के हुक्मरान मुअम्मर अल-क़ज़ाफ़ी के बेटे सैफ़ुल इस्लाम ने एक टेलीवीज़न बयान में ये कहकर हलचल मचा दी कि वह तब तक इस अवामी तहरीक का मुक़ाबला करेंगे जब तक कि लीबिया का आख़िरी मर्द और आख़िरी औरत बाक़ी है। इस जुमले से बाप बेटे के नापाक इरादों का अंदाज़ा लगाया जा सकता है। ये बात और है कि सैफ़ुल इस्लाम के हाथों में इस्लामी तलवार नहीं बल्कि डिक्टेटर की तलवार है, जिसके ज़रिये वह अपने बाप की जानशीनी का ख़्वाब देख रहा है।

क़ज़ाफ़ी को लीबिया पर हुकूमत करते हुए 40 साल हो चुके हैं। याद रहे कि लीबिया के देहाती समाज

में पैदा होने वाले बुज़ुर्ग अबु मनियार अल-क़ज़ाफ़ी को शुरु से ही लीबिया के लोग एक जोशीले और क़ौम परस्त नौजवान की शक्ल में पहचानते हैं, उन्होंने अपनी शख़्सियत को इस तरह ढाला कि लोग उनको लीबिया का अज़ीम सपूत मानें। क़ज़ाफ़ी मिस्र के हुक्मरान जमाल अब्दुन्नासिर की पॉलीसियों से बहुत मुतास्सिर थे और नहरे सोईज़ के क़ौमियाए जाने के सिलसिले में जो मसला मिस्र में पैदा हुआ, उसमें इस्राईल के ख़िलाफ़ सभी अरब मुल्कों में एहतेजाजी मुज़ाहरे हुए। मुअम्मर अल-क़ज़ाफ़ी ने लीबिया में होने वाले इस्राईल मुख़ालिफ़ मुज़ाहरों में बढ़चढ़ कर हिस्सा लिया बाद में मुअम्मर अल-क़ज़ाफ़ी ने आला तालीम हासिल की और लीबिया की फ़ौज में नौकरी हासिल की और कर्नल के ओहदे तक तरक़्क़ी की। 1967 में इस्राईल के हाथों अरब मुल्कों की शर्मनाक हार ने मुअम्मर अल-क़ज़ाफ़ी के दिलो दिमाग़ को भी मुतास्सिर किया और 1969 में उन्होंने लीबिया के हुकमरान इदरीस शाह की हुकूमत का तख़्ता उस वक़्त पलट दिया, जब वह इलाज के लिए तुर्की गए हुए थे। कर्नल क़ज़ाफ़ी ने अपने मुल्क से शाही हुकूमत ख़त्म करके उसको एक जमहूरी मुल्क बनाने का एलान किया, लेकिन ऑफ़ीशियल नाम बदले जाने के अलावा मुल्क के निज़ाम में कोई तबदीली नहीं आई। लीबिया शहंशाहियत की ज़ंजीरों से निकलकर एक फ़ौजी के जाल में गिरफ़्तार हो गया। नासिर के मरने के बाद क़ज़ाफ़ी ने एक बड़े और ऊँचे लीडर बनने का ख़्वाब देखा और नासिर की जगह लेने की कोशिश की। 1972 में क़ज़ाफ़ी पर म्युनिख़ ओलम्पिक में इस्राईली खिलाड़ियों का क़त्ल करने वालों को साज़ो सामान दिलाने का इल्ज़ाम लगाया गया। इसी साल क़ज़ाफ़ी ने दुनिया को ये कहकर चौंका दिया कि शाम, लीबिया और मिस्र एक होना चाहते हैं, पड़ोस के अरब मुल्कों में इस एलान से काफ़ी हलचल पैदा हो गई, लेकिन दो साल की अंथक मेहनत भी काम न आई और तीनों मुल्कों ने एक होने की शर्तों को न मानते हुए एक होने की राय का कफ़न-दफ़न कर दिया लेकिन क़ज़ाफ़ी का हीरो बनने का शौक़ ख़त्म नहीं हुआ और वह तरह-तरह के ड्रामे करते रहे। 1978 में उन पर इल्ज़ाम लगा कि लेबनान के इंक़ेलाबी शिया लीडर मूसा सद्र को उन्होंने ग़ायब करवाने में सी०आई०ए० की मदद की है, लेबनानी शियों का कहना था कि मूसा सद्र अपने दो साथियों अब्बास बदरुद्दीन और शैख़ मुहम्मद याक़ूब के साथ जब लीबिया में तिरिपोली के हवाई अड्डे पर उतरे तो क़ज़ाफ़ी ने उनका अपहरण करवाने के बाद क़त्ल करवा दिया, हालांकि क़ज़ाफ़ी ने बहुत सख़्ती से इनकार किया लेकिन किसी को यक़ीन नहीं आया कि उनके ग़ायब होने में क़ज़ाफ़ी का हाथ नहीं है। 1973 में पड़ोसी हुकूमत तशाद (जिसको अंग्रेज़ी में चाड लिखा जाता है) से एक जज़ीरे की मिलकियत को लेकर होने वाले झगड़े को इस तरह सुलझाने की कोशिश की कि तशाद पर क़ब्ज़ा ही कर लिया, लेकिन बाद में अन्तर्राष्ट्रीय दबाव की वजह से उनको अपनी फ़ौजें तशाद से हटाना पड़ीं, लेकिन ये बात हैरान कर देने वाली है कि ईरान के इस्लामी इन्क़ेलाब की क़ज़ाफ़ी ने खुलकर हिमायत की और बाद में ईरान पर इराक़ की राष्ट्रपति सद्दाम के ज़रिए चढ़ाई किये जाने की भी क़ज़ाफ़ी ने खुलकर मज़म्मत की। इसकी वजह शायद ये भी थी कि क़ज़ाफ़ी की अमरीका से दुश्मनी की शुरुआत हो गई थी और चूँकि दुश्मन का दुश्मन दोस्त होता है, इसीलिए उन्होंने इलाक़े में अमरीका के सबसे बड़े दुश्मन ईरान की तरफ़दारी की। उस वक़्त के अमरीकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने क़ज़ाफ़ी की पॉलीसियों से जल भुनकर उनको पश्चिम एशिया का 'पागल कुत्ता' कहकर मुख़ातब किया था। क़ज़ाफ़ी ने अमरीका और ब्रिट्रेन की ज़बरदस्त मुख़ालफ़त करके ख़ुद को एक अरब हीरो के रूप में आम अरबों के सामने पेश किया, बल्कि यूँ कहा जाए कि उन्होंने इन सब हरकतों की आड़ में अपनी हुकूमत की कश्ती को डूबने से बचाए रखा। इस बीच अमरीका ने कई बार लीबिया के पेट्रोल बोट्स को निशाना बनाया। 1990 में एक अमरीकी जहाज़ को उड़ाए जाने के मामले में फिर एक बार क़ज़ाफ़ी लाइट में आए और अमरीका से टकराने की कोशिश करने में लग गए। असल में क़ज़ाफ़ी की सिर्फ़ यही कोशिश थी लीबिया की पब्लिक पर चाहे जो भी

गुज़रे, लेकिन वह सारी दुनिया के मुसलमानों में अमरीका और इस्राईल के ख़िलाफ़ जो नफ़रत पैदा हो रही है, उसको कैश करते रहें। इसमे काफ़ी वक़्त तक वह कामयाब भी रहे, लेकिन लाकरबी मामले में अमरीका के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी के दबाव ने क़ज़ाफ़ी को एकदम तोड़कर रख दिया और फिर उन्होंने पश्चिमी ताक़तों के सामने सर झुकाने का फैसला किया। ज़ाहिर है कि जिस चीज़ को बुनियाद बनाकर क़ज़ाफ़ी ने इतने दिनों तक लीबिया के अवाम को बेवक़ूफ़ बनाए रखा, उस से पीछे हटने के बाद उनकी हुकूमत की तरफ़ पब्लिक का ध्यान लगना ही था और 42 साल तक लीबिया की पब्लिक पर अपनी मनमानी पॉलीसियाँ थोपने वाले इस हुक्मरान और उसके बेटे का दिल अभी भी भरा नहीं है अभी भी दोनों की तमन्ना है कि वह लीबिया की हुकूमत पर क़ब्ज़ा जमाए रहें। क़ज़ाफ़ी ने लीबिया की पब्लिक के लिए जितनी संगदिली दिखाई है, इसकी उम्मीद किसी को नहीं थी। इस वक़्त लीबिया में जिस तरह पब्लिक को क़त्ल किया जा रहा है, उसको देखकर लगता है कि लीबिया की पब्लिक की आँखों पर अमरीका की दुश्मनी का जो पर्दा डाल कर वह ख़ुद को लीबियाई पब्लिक का मसीहा बनाकर पेश कर थे वह सिवाए हुकूमत की हवस के कुछ और न था। लीबिया से जो ख़बरें आ रही हैं उन से मालूम हो रहा है कि वहाँ हवाई जहाज़ों और हेलीकाप्टरों के ज़रिए पब्लिक पर फ़ायरिंग की जा रही है और लोगों की लाशों को बुलडोज़रों के ज़रिए सड़कों से हटाया जा रहा है। पीर के दिन तो एक ख़ुशख़बरी भी आई थी कि कर्नल क़ज़ाफ़ी ने भागने का रास्ता चुन लिया है और वह अब वेनूज़ुएला की तरफ़ चल दिये हैं, जहाँ उनके क़रीबी दोस्त शावेज़ उनकी मेहमानी के लिए मौजूद हैं, लेकिन इस बात को झुठलाते हुए क़ज़ाफ़ी ने कहा कि वह अभी तिरिपोली में ही हैं, जिसका मतलब यही लिया जा रहा है कि कर्नल क़ज़ाफ़ी लीबिया के क़ब्रिस्तानों में और नौजवानों को दफ़न करने की सोच में हैं। अपने बेटे को हुकूमत में देखने की तमन्ना दिल में रखने वाले क़ज़ाफ़ी अभी कितनी लीबियाई माओं की जिगर के टुकड़ों को क़ब्र के अन्धेरों में उतारेंगे मालूम नहीं, लेकिन ये बात तै है कि अब क़ज़ाफ़ी के पास हुकूमत छोड़ने के अलावा कोई रास्ता नहीं है। पश्चिम एशिया में जो तूफ़ान आया है अगर इसकी सख़्ती को वह समझ लें तो शायद उनकी और उनके ख़ानदान की जान बच जाए वरना कोई दूर नहीं कि तेल के कुँओं से उबलने वाला ये पब्लिक का ख़ून उनको और उनके ख़ानदान को डुबो दे।

(बशुक्रिया रोज़नामा राष्ट्रीय सहारा (उर्दू) 23 फ़रवरी 2011ई॰)

इंटरनेशनल वेमन्स-डे के सौ साल

जिस तरह यूरोप वालों ने मदर्स-डे, फादर्स-डें और वेलन्टाइन-डे जैसे कुछ ख़ास दिन अलग किये हैं उसी तरह उन्होंने हर साल 8 मार्च के दिन को इंटरनेशनल वेमन्स-डे क़रार दिया। यूरोप वालों को औरतों की याद 1910ई॰ में आई और उन्होंने डेनमार्क की राजधानी कोपेन हैगन में होने वाली सोशलिस्ट औरतों की दूसरी सालाना कान्फ्रेंस के मौक़े पर ये फ़ैसला किया कि साल में कम से कम एक दिन तो औरतों के साथ अच्छे सुलूक के लिए ख़ास कर ही दिया जाना चाहिए। इसी कान्फ्रेंस में फ़ैसला हुआ कि हर साल इंटरनेशनल वेमन्स-डे मनाया जाएगा। इस कान्फ्रेंस के बाद कई मुल्कों ने अपने यहाँ एक दिन तै कर लिया कि वह इंटरनेशनल वेमन्स-डे मनाएंगे, लेकिन किसी एक तारीख़ पर इत्तेफ़ाक़ नहीं हो सका इसलिए अलग-अलग मुल्कों में अलग-अलग तारीख़ों में ये दिन मनाया जाने लगा।

शुरु के दिनों में इसको इण्टरनेश्नल वर्किंग वेमन्स-डे के रूप में मनाया जाता था। 1911ई॰ में जर्मनी में पहला इंटरनेशनल वेमन्स-डे मनाया गया लेकिन रूस के इंक़ेलाब के बाद पहली बार 1917ई॰ में हक़ीक़ी तौर पर वेमन्स-डे को मनाने की तक़रीबों को सरकारी सरपरस्ती हासिल हुई और बाक़ायदगी से ये दिन मनाया जाने लगा।

लेकिन ये दिन काम-काज करने वाली औरतों के लिए ख़ास था और इस दिन को एक जश्न के तौर पर मनाए जाने का जवाज़ भी था क्योंकि एक ज़माने में औरतों को दफ़्तरों, दुकानों और फैक्ट्रियों में काम करने का हक़ नहीं था। औरतों को घर की ख़ूबसूरती समझा जाता था उनको मर्दों ने इस तरह बाँध रखा था कि वह

कारोबारी तौर पर हमेशा मर्दों पर टिकी रहें और कभी भी आज़ादी के साथ अपनी ज़िंदगी का कोई फैसला न ले सकें। पुराने ज़माने में ज़रिये भी ऐसे न थे और ज़िन्दगी गुज़ारने के लिए इतने सरमाए की ज़रूरत भी नहीं थी इसलिए औरतों का काम करना न करना इतना अहम भी नहीं था इसलिए जब यूरोप में औरतों को काम करने का हक़ मिला तो उनका जश्न मनाना फ़ितरी था। बहरहाल अगर इस दिन की शुरुआत पर नज़र डालें तो उस हिसाब से उस दिन को सौ साल हो गए हैं और इसी वजह से सारी दुनिया में ये दिन बहुत ज़्यादा जोश के साथ मनाया जा रहा है।

इस्लामी दुनिया या मुसलमानों से इसका कोई लेना-देना नहीं था हिन्दुस्तान में भी इसकी कोई अहमियत नहीं थी लेकिन जब 1977ई॰ में संयुक्त राष्ट्र की जनरल असेम्बली ने 8 मार्च को इंटरनेश्नल वेमन्स-डे और आज़ादी का दिन क़रार देकर उनको UN Day for women's Right and International Peace का नाम दिया तो फिर दुनिया भर में सब मुल्क ही इसको मनाने लगे। हमारे मुल्क में भी ये दिन इसी वजह से मनाया जाने लगा कि इसको संयुक्त राष्ट्र ने औरतों का दिन क़रार दिया है हालांकि इसके नाम रखने की वजह समझ में नहीं आई कि ये 8 मार्च को ही क्यों मनाया जाता है, क्योंकि हिन्दुस्तान में मनाने के लिए बहुत सी ऐसी औरतों का जन्म-दिन का मौक़ा था जबकि इस दिन को मनाया जा सकता था। वैसे ईरान में ये दिन मनाने के लिए पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद की साहबज़ादी हज़रत फ़ातिमास॰ के जन्म-दिन को चुना गया है और वहाँ के शम्सी कैलेण्डर के हिसाब से ये दिन 22 बहमन के रोज़ मनाया जाता है।

मेरे ख़याल में ये दिन कब मनाया जाए और कब न मनाया जाए इस पर बहस करना बेकार है बात इस पर होनी चाहिए कि क्या किसी एक दिन को हम औरतों के नाम ख़ास करके अपने फ़राएज़ अदा करने से अलग हो जाते हैं? क्या इतना काफ़ी है कि 8 मार्च को कुछ फंक्शन हों और कुछ अख़बारों में मरकज़ी और सूबाई सरकारों की तरफ़ से इस बारे में एडर्वटाइज़ छाप दिये जाएं बस? क्या इतना काफ़ी है कि उसी दिन अगर सुप्रीमकोर्ट का फ़ैसला मुम्बई की एक नर्स अरूना शान बाग को अपनी मर्ज़ी की मौत का हक़ न दे तो हम उसको औरतों के हुक़ूक़ से जोड़कर उसे वेमन्स-डे का हिस्सा बना दें। पहली बात तो ये है कि मेरे ख़याल में किसी एक दिन को वेमन्स-डे का नाम देकर हम औरतों की अज़मत को बढ़ाने के बजाए घटाने का काम ज़्यादा अंजाम दे रहे हैं। अल्लाह तआला ने जिस औरत के रहम में तमाम इंसानों को परवरिश पाने का मौक़ा दिया और जिसको उसने ईसार और मुहब्बत का एक ऐसा नमूना बनाकर पेश किया जिसका मुक़ाबला कोई मर्द नहीं कर सकता उसके लिए सिर्फ़ एक दिन ख़ास किया जाए? ये करम है या सितम?

हमारी ज़िंदगी का हर लम्हा अपनी माओं का एहसान मानने वाला है तो हम एक दिन उसके नाम से मंसूब करके कौन सा आसमान ज़मीन पर उतारे ले रहे हैं? ख़ास तौर पर हिन्दुस्तानी समाज जहाँ आज भी औरतों को तरह-तरह के ज़ुल्मो सितम का शिकार होना पड़ रहा है। वह हिन्दुस्तानी सोसाइटी जो लड़की की विलादत पर आँसू बहाती है और लड़के के पैदा होने पर मुस्कुराती है और वह हिन्दुस्तानी समाज जो लड़कों को जन्म देने वाली माओं को ख़ुशक़िस्मत और लड़की को जन्म देने वाली माओं को मनहूस समझता हो वहाँ क्या इस दिन की तक़रीबों की कोई अहमियत है? जिस मुल्क में माँ के पेट में ही चोरी छिपे लड़कियों से जीने का हक़ छीन लेने का संगीन गुनाह आज भी धड़ल्ले से होता हो, जिस मुल्क में ट्रेनों, बस स्टैण्डों, कचरे के डब्बों और फुटपाथों पर आज भी नई पैदा होने वाली लड़कियाँ लावारिस पड़ी हुई मिलती हों वहाँ क्या वेमन्स-डे मनाए जाने का कोई मतलब है?

वैसे तो यहाँ बातें तो बड़ी-बड़ी की जाती हैं कि कहा जाता है कि इस मुल्क में औरत को देवी का दर्जा हासिल है लेकिन औरत का हाल क्या है वह क़दम-क़दम पर नज़र आता है किस तरह बेवा औरतों की बेइज़्ज़ती और हंसी होती है। किस तरह बूढ़ी माओं को उनके ही बेटे मुक़द्दस समझे जाने वाले शहरों में छोड़ आते हैं। किस तरह लड़कियों को तालीम और तरबियत से महरूम रखने का सिलसिला आज भी जारी है? ये सब

अपनी ज़बान से बयान करता है यहाँ के हालात को और ख़वातीन की बदहाली को। अफ़सोस की बात ये है कि औरतों का इस्तेहसाल किसी ख़ास फ़िरक़े तक घिरा हुआ नहीं है बल्कि वह क़ौमें भी इसमें शामिल हो गई हैं जिनके मज़हब ने माँ के पैर के नीचे जन्नत दिखाई है। वह लोग भी औरतों को उनके हुक़ूक़ से महरूम करने लगे हैं जिनको मालूम है कि उम्मुल मोमिनीन हज़रत ख़दीजा[अ०] अपने ज़माने की अरब की सबसे मशहूर ताजिरा औरत थीं। इस क़ौम का एक गिरोह भी औरतों के इस्तेहसाल में लगा है जिसको मालूम है कि अल्लाह ने मर्द और औरत को बराबर के हुक़ूक़ दिये हैं।

अल्लाह को एक मानने वालों पर हिन्दुस्तानी समाज का रंग ऐसा चढ़ा है कि अगर किसी के घर में चार लड़कियाँ हैं तो वह भी अपने आपको बदक़िस्मत समझ कर हर वक़्त तक़दीर को कोसता रहता है। अल्लाह ने औरतों को जो हुक़ूक़ दिये हैं उनको समाजी बंदिशों के नाम पर हड़पना और औरतों को को वह आज़ादियाँ जो इस्लाम ने अता की हैं उनको रस्मों के नाम पर ख़त्म करना एक आम सी बात हो गई है। हमारे सारे समाज में हिन्दुस्तानी रस्में इस तरह रच-बस गई हैं कि कभी-कभी हम ये समझने लगते हैं कि ये कोई रस्म नहीं बल्कि इस्लाम का कोई हुक्म है। ख़ास तौर पर शादी-ब्याह की रस्मों में ऐसी-ऐसी चीज़ें देखने को मिलती हैं कि हैरत होती है। अगर नाक में नथ नहीं हो तो निकाह नहीं होगा, सुर्ख़ जोड़ा अगर सुसराल से नहीं आया तो लड़की दुलहन नहीं बनेगी, बड़ा सा सेहरा नहीं होगा तो नौशा मियाँ अपने घर से नहीं निकलेंगे। माँ-बाप को लगेगा ही नहीं कि घर में शादी हो रही है और फिर लड़की की रुख़सती के वक़्त जब तक सारा गाँव आँसू नहीं बहाएगा लड़की के घर वालों को लगेगा ही नहीं कि लड़की चली गई। क्या शादियों में इस तरह रो कर हम भी उसी अक़ीदे का इज़हार नहीं करते कि हम ने लड़की को दान कर दिया और अब इस पर हमारा कोई हक़ नहीं वह ग़ैर की हो गई अब उस पर माँ-बाप को कोई हक़ नहीं? क्या इस्लाम ने ऐसा कोई हुक्म दिया है कि जिस से ये तै हो सके कि शादी के बाद लड़की पर माँ-बाप का कोई हक़ नहीं रहता?

औरतों के मामले में इस्लामी क़ानूनों की धज्जियाँ उड़ाए जाने की उस वक़्त तो हद हो गई जब हरियाना की एक मुस्लिम पंचायत ने एक ही गोत्र में शादी किये जाने की शदीद मुख़ालिफ़त की। हालांकि रसूले अकरम[स०] ने अपनी लाडली बेटी हज़रत फ़ातिमा ज़हरा[स०] की शादी अपने सब से क़रीबी रिश्तेदार हज़रत अली[अ०] से की, लेकिन हमारे हिन्दुस्तानी समाज का रंग एक मुस्लिम पंचायत पर ऐसा ग़ालिब हुआ कि उन्होंने गोत्र जैसे ग़ैर इंसानी फ़लसफ़े को मान लिया। ख़याल रहे कि इसी गोत्र के नाम पर आज हरियाना, राजस्थान और पंजाब में आबाद लड़कियों की ज़िंदगी अजीरन हो गई है और कोई दिन ऐसा नहीं जाता कि जब दोचार लड़कियाँ किसी गाँव में ख़ामोशी से मार न दी जाती हों।

हम जिस समाज में रह रहे हैं उसमें औरत के ख़िलाफ़ जुर्म करने की एक ख़ास सोच मौजूद है और इस सोच को बदलने के लिए किसी एक दिन को औरतों के नाम करके कोई फ़ायदा होने वाला नहीं है। हमको हर दिन औरतों के जाएज़ हुक़ूक़ उन तक पहुँचाने के लिए काम करना होगा। ख़ास तौर पर मुस्लिम उलमा को इस मामले में एक भरपूर मुहिम चलाना होगी जिसके तहत औरत को वह दर्जा मिल सके जो इस्लाम ने उसको दिया है।

(बशुक्रिया रोज़नामा राष्ट्रीय सहारा (उर्दू) 9 मार्च 2011[ई०])

शेष इंसान से मुताल्लिक़..........

सरवरे काएनात[स०] के एक सहाबी के बेटे का इंतेक़ाल हो गया था उसके ग़म में उन्होंने अपना सारा कारोबार छोड़ दिया और अपने घर के एक हिस्से में दिन रात इबादत करने लगे। हुज़ूरे अनवर[स०] को इसकी ख़बर लगी तो आप ने फ़रमाया, तर्जुमाः- ''अल्लाह ने हमें दुनिया को बिल्कुल छोड़ देने का हुक्म नहीं दिया है। बल्कि मेरी उम्मत के लिए रहबानियत यानी दुनिया को छोड़ देना अल्लाह के रास्ते में ज़बरदस्त कोशिश व मेहनत का नाम है।'' मतलब ये हुआ कि इस्लाम के नज़दीक इंसान को उसका सही मक़ाम और दर्जा उसी वक़्त मिल सकता है जब वह अपने आपको उसके लायक़ बना सके।